

आदहिदं कादव्वं

—प्रो. वीरसागर जैन

“आदहिदं कादव्वं, जदि सक्कदि परहिदं पि कादव्वं।
आदहिद-परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥”

यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण गाथा है, परन्तु इसके मूल कर्ता (रचयिता) का कुछ पता नहीं चलता है। यह गाथा प्राचीन काल से ही निरन्तर पढ़ी-पढ़ाई जाती रही है। हो सकता है इसके मूल कर्ता साक्षात् गौतमादि गणधर स्वामी ही कोई हों। वर्तमान में यह गाथा भगवती आराधना (टीका 154), मूलाचार (टीका 156), अनगार धर्माभूत (1/12), पंचाध्यायी (उत्तरार्ध 804) आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत रूप में उपलब्ध होती है। इस गाथा का हिन्दी भाषा में सरलार्थ यह है कि—

“हमें आत्महित करना चाहिए, यदि सम्भव हो तो परहित भी करना चाहिए, किन्तु आत्महित और परहित में से आत्महित को ही अच्छी तरह से करना चाहिए।”

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस गाथा में वैसे तो परहित का भी उपदेश दिया गया है, परन्तु आचार्य देव का सारा बल वस्तुतः एक मात्र आत्महित पर ही अधिक है और यही इस गाथा का प्राण है, मूल संदेश है। यह गाथा प्राचीन काल से आज तक आत्महित की मुख्यता के इसी संदेश को बार-बार दोहराने के लिए ही निरन्तर पढ़ी-पढ़ाई जाती रही है। देखा जाए तो इस गाथा में सभी आचार्यों का हृदय, उनका निजी अन्तरंग भाव छुपा हुआ है कि हमें एक मात्र आत्महित को ही सदा मुख्य रखना चाहिए, पर की चिन्ता करना उचित नहीं है। आचार्यों के इस महत्त्वपूर्ण सन्देश/आदेश/उपदेश/निर्देश/आदेश पर हम सबको बहुत ही गहराई से चिन्तन-मनन-मन्थन करना चाहिए।

विचारणीय है कि इन आचार्यों ने आत्महित को इतनी मुख्यता क्यों दी है, जबकि बहुत से लोग तो परहित को ही समस्त शास्त्रों का सार कहते हैं।

गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने पर समझ में आता है कि आत्महित की मुख्यता की बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, एकदम वैज्ञानिक है, क्योंकि उसके अनेक कारण हैं। यथा—

1. परहित वास्तव में वही कर सकता है, जिसने पहले आत्महित किया हो। जिसने अभी स्वयं अपना ही हित नहीं किया हो, वह दूसरों का हित कैसे कर सकता है? जो स्वयं ही निर्धन हो वह दूसरे को धन कैसे दे सकता है? जो स्वयं ही अनपढ़ हो वह दूसरे को क्या पढ़ा सकता है? जो स्वयं ही तैरना न जानता हो वह दूसरे को तैरना कैसे सिखा सकता है? सीधी-सी बात है कि जिसने स्वयं एम.ए. किया हो वही बी.ए. को पढ़ा सकता है। जिसके स्वयं के पास एक रोटी हो तो ही वह दूसरे को आधी रोटी दे सकता है। जो खुद ही भूखा-नंगा हो वह दूसरे को कैसे क्या देगा? जो स्वयं ही अज्ञानी हो वह दूसरे को कैसे कोई ज्ञान दे सकता है?
2. परहित करना एक अद्भुत कला है। परहित करना तो बहुत लोग चाहते हैं, परन्तु वास्तव में परहित वही कर सकता है जो इस कला में विधिवत् प्रशिक्षित हो। जिसे यह भलीभाँति ज्ञान हो कि हित क्या है और कैसे किया जा सकता है, वही क्वचित् कदाचित् किसी पर का हित कर पाता है। सदा सबका हित करना तो फिर भी सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार यदि अपात्र/कुपात्र को उपदेश देने की गलती कर दे तो अपना भी अहित हो सकता है। अतः जो परहित की कला में प्रशिक्षित नहीं हैं उन सबके लिए यही उचित है कि—

“अरे सुधारक जगत् के, चिन्ता मत कर यार।
तेरा मन ही जगत् है, पहले इसे सुधार॥”

3. पर का हित करने के लिए प्रथम तो स्वयं को हिताहित का विवेक अवश्य होना ही चाहिए, अन्यथा हम दूसरे को अहित से बचाकर हित में कैसे लगा पाएँगे? अतः परहित से पूर्व स्वयं हिताहित का विवेक करना सीखना अत्यंत आवश्यक है। जो लोग हित क्या है और कैसे किया जा सकता है— यह नहीं जानते, देखा जाता है कि वे प्रायः भले की बजाय पर का बुरा ही कर बैठते हैं। जैसे कि कुछ लोग सहायता करने के नाम पर दूसरे को लाचार/परावलम्बी बना देते हैं, धर्म के मार्ग से हटाकर अधर्म के मार्ग पर लगा देते हैं, इत्यादि।

4. पर का हित वास्तव में कोई कर ही नहीं सकता है। सबको अपना-अपना हित स्वयं ही करना पड़ता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। पत्नी के पेट में दर्द हो तो पत्नी को ही दवाई खानी पड़ती है, पति के दवाई खाने से पत्नी के पेट का दर्द ठीक नहीं होता। वैसे ही सब जीव स्वयं ही स्वयं का हित कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं कर सकता। प्रत्येक आत्मा स्वयं ही अपना गुरु है, दूसरा तो निमित्त मात्र होता है। पर से समझने और पर को समझाने की भावना को आचार्यों ने ‘उन्मत्तचेष्टा’ कहा है। यथा—

“यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।

उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥”

—आचार्य पूज्यपाद, समाधितंत्र, 19

5. जीव के दुःख/परेशानी का कारण वस्तुतः यही है कि यह दूसरों को बदलना चाहता है, बस। अन्यथा दुःख का अन्य कोई कारण ही नहीं है। दूसरे को बदलने की इच्छा का नाम ही मोह-राग-द्वेष है, आतंकवाद है।
6. यह आत्मा दूसरों को बदलने में, जितनी शक्ति और समय लगाता है, यदि उसका शतांश भी स्वयं को बदलने में लगाए तो इसका शीघ्र कल्याण हो जाए। (—सत्य की खोज, पृष्ठ)
7. दूसरे को हित का उपदेश देना आसान है, परंतु स्वयं हित के मार्ग पर चल देना बहुत कठिन है। “पर उपदेश कुशल बहुतेरे, आप चले सन्मारग विरले।” (तुलसीदास) हमने अनेक जन्मों में दूसरों को उपदेश दिया, इतना बढ़िया दिया कि वे भव से पार हो गये, परन्तु हम स्वयं खाली रह गये। (ज्यों शिशु नाचत आप न माचत लखनहार बौराए। —दौलत-विलास, पद 75) अब हमें पूरा ध्यान अपने को स्वयं को सुधारने में लगाना है। देखिए कहानी— ‘व्यस्त रहो स्वस्थ रहो’ में तीन मूर्तियाँ।
8. ‘पर’ में तो सारी दुनिया आती है। सारी दुनिया का हित करना सम्भव ही नहीं है। हाँ, उसमें से हम अपना हित कर सकते हैं। कुआ नहीं छनता, लोटा छन सकता है। परिस्थिति नहीं, अपनी मनःस्थिति बदली जा सकती है। सारी सृष्टि नहीं, अपनी दृष्टि बदली जा सकती है। यही सभी तीर्थकरों ने भी किया है। दीवार नहीं मोड़ी जा सकती, अपनी गाड़ी मोड़ी जा सकती है। पूरे आकाश में चंदोवा नहीं लग सकता, अपने ऊपर छाता लग सकता है। पूरी धरती निष्कण्टक नहीं हो सकती, हम अपने पैरों में चप्पल पहन सकते हैं।
9. यदि सब लोग स्वहित करें तो सबका (विश्व का) हित भी सहज ही हो जाएगा। हम सुधरेंगे, जग सुधरेगा। जिस प्रकार यदि सब लोग अपने-अपने घर के आगे सफाई कर लें तो पूरा मोहल्ला/गाँव/देश सहज ही साफ हो जाएगा, उसी प्रकार वास्तव में देखा जाए तो आत्महित का उपदेश ही विश्वहित का उपदेश है।
10. स्वहित करना सरल भी है। परहित करने के लिए तो नाना प्रकार के अनुकूल साधनों की आवश्यकता होती है, परन्तु स्वहित कभी भी कोई भी आसानी से कर सकता है, अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियाँ हों तो भी कर सकता है।
11. अनादि काल से आज तक हमने सदा पर का ही ध्यान रखा है, हम 24 x 7 अर्थात् सदा ही दूसरों को ही देखते रहते हैं, हमने अपने सारे सुख-दुःख की चाबी ही दूसरों के हाथ में दे रखी है, कभी अपनी ओर दृष्टि ही नहीं करते। हम अनेक बार निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु तक बने, पर फिर भी हमारा ध्यान दूसरों से नहीं हटा। देखो आश्चर्य कि साधु तो विशुद्ध आत्महित के लिए ही बना जाता है, परन्तु वहाँ भी हमने आत्महित की उपेक्षा की, सदा दूसरों की ही चिंता करते रहे। रत्नाकर-पच्चीसी में लिखा है—

“वैराग्यरंगः परवंचनाय, धर्मोपदेशो जनरंजनाय।

वादाय विद्याध्ययनञ्च मेऽभूत्, कियद्ब्रुवे हास्यकरं स्वमीश ॥ 9 ॥”

ज्ञानी जन तो ग्रंथ-रचना, उपदेश आदि के कार्य भी स्वहित की मुख्यता से ही करते हैं। यथा—

(क) नियभावणाणिमित्तं मए कदं नियमसारणामसुदं। —नियमसार, 187

(ख) अप्पासंबोहण कया दोहा एक्कमणाहं। —योगसार, 3 एवं 108

(ग) नियभावणाणिमित्तं रचिदं आराहणासारं। —आराधनासार, 114

(घ) मम परमविशुद्धिः.....। —आत्मख्याति, 2

(ङ) स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा। —तुलसीदास

(च) हे मन ! तेरी को कुटेव यह/ हे जिया.....। —दौलतविलास, 109, 98

(छ) कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम् । —ज्ञानार्णव, 1/19

पर को सुधारना बहुत कठिन है। ऋषभदेव भी मारीचि को नहीं समझा सके। श्रीकृष्ण जैसा चतुर व्यक्ति भी कौरव-पांडवों को नहीं समझा सका। रावण को भी देखो कोई नहीं समझा सका। कहावत है कि—

समझे तो अपने आप से, नहीं तो किसी के बाप से।

संस्कृत-सूक्ति भी है— स्वभावो हि दुरतिक्रमः।

और भी अनेक श्लोक ऐसे हैं। यथा—

(क) नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ —इष्टोपदेश, 35

(ख) यः स्वभावो भवेद्यस्य स तेन खलु दुस्त्यजः।

न हि शिक्षाशतेनापि कपिर्मुच्यति चापलम् ॥ —यशस्तिलक 3/176

(ग) न स्वतो जन्तवो प्रेर्याः दुरीहा स्युर्जिनागमे ।

स्वतः एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः॥ —यशस्तिलक 6/148

(घ) उत्तमा स्वात्मर्चिता स्याद्देहचिन्ता च मध्यमा ।

अधमा कामचिन्ता स्यात् परर्चिताऽधमाधमा ॥ —परमानन्द स्तोत्र, 4

(ङ) खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।

आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥

यह आत्मा दूसरों को सुधारने में जितना समय और श्रम लगाता है, यदि उसका सौवाँ हिस्सा भी अपने को सुधारने में लगाए तो इसका कल्याण होते देर न लगे।

आत्महित की मुख्यता को समझने के लिए कतिपय निम्नलिखित बिन्दु भी ध्यान देने योग्य हैं—

1. स्वाध्याय के 5 भेदों में से 4 स्व के लिए हैं, मात्र 1 कथंचित् पर के लिए है।
2. जैन धर्म की सभी क्रियाएँ स्वोपकार की मुख्यता से हैं। पूजा, भक्ति और दान भी।
3. दुनिया बदलने का छोड़ दे सपना, हो सके तो भैया हित कर ले तू अपना।
4. ज्ञानरूपी रथ में बैठकर अपने मनरूपी पथ में विहार करना ही प्रभावना है। —समयसार, गाथा 236
5. अज्ञानी आत्महित की प्रधानता से किये जाने वाले कार्यों को भी परहित की दृष्टि से करता है, जबकि ज्ञानी परहित की प्रधानता से किये जाने वाले कार्यों को भी आत्महित की मुख्यता से करता है।
6. ज्ञानी कुछ भी हो तो शीघ्र अपने उपयोग को अपने अंदर ले जाते हैं कछुए की तरह।
7. आत्मानुशासन ही सबसे अच्छा शासन है। (देखें मेरा अन्य लेख— भ्रष्टाचार कैसे मिटे?)
8. काम एक आत्मार्थनो, बीजो नहीं मन रोग। —श्रीमद् राजचन्द्र
9. दुनिया में उसने बड़ी बात कर ली,
खुद अपने से जिसने मुलाकात कर ली।
10. हमने आज तक चाँद पर क्या है, समुद्र में क्या है, —यह तो जानना चाहा, पर स्वयं को जानने की कोशिश नहीं की।
11. आप भला तो जग भला (अकबर ने पूछा— बीरबल, यदि हम दोनों को दाढ़ी में आग लग जाए तो तुम पहले किसकी बुझाओगे? बीरबल बोला— मेरी।)
12. आत्मबलं बलं परबलं दुर्बलम् = अपना हाथ जगन्नाथ।
13. अवाग्विसर्ग वपुषा निरुपयन्तं.../ —सर्वार्थसिद्धि 1/1, उत्थानिका
14. गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः उच्छिन्नसंशयाः।
15. मेरा जीवन ही मेरा संदेश है। —महात्मा गाँधी

16. आत्महित कैसे करें— आत्मानुभूति करो (जीवन अलप.... —जैनशतक, 91)
 17. चारों पन व्यर्थ खोये । ('भव्यप्रमोद' में इसकी कहानी है ।)
 18. एक जापानी शोधार्थी का निष्कर्ष है कि— आत्मानुभूति ही जैन धर्म है ।
 19. मत दे तू उपदेश को, प्रथम लेय उपदेश ।
सबसे प्यारा आत्मा, वह ज्ञानी का देश ।।
 20. जंगल जंगल ढूँढ रहा है, मृग अपनी कस्तूरी को ।
कितना मुश्किल है तय करना, खुद से खुद की दूरी को ।।
 21. ज्यों निधि पाकर निज वतन में, गुप्त रह जन भोगते ।
त्यों ज्ञाननिधि पा ज्ञानिजन भी, गुप्त रह कर भोगते ।। —नियमसार, 157
- इसप्रकार यहाँ 'आदहिदं कादव्वं' की कुछ व्याख्या की गई, परंतु वास्तव में अभी एक ही व्याख्यान हुआ है, बलाघात या समास आदि का प्रयोग करके इसके अनेक व्याख्यान समझने चाहिए । जैसे—
1. अपना हित करो अपना, दूसरों के चक्कर में मत पड़ो, दूसरों के चक्कर में बहुत जन्म खोये, इत्यादि ।
 2. अपना हित करो हित, अहित नहीं, बहुत अहित किया है— अज्ञानी पाप धतूरा न बोय, इत्यादि ।
 3. अपना हित करो, करो, बैठो मत, समय मत खराब करो, शीघ्र करो, इत्यादि ।
 4. अपने द्वारा ही अपना हित करो, दूसरों के भरोसे मत बैठो, देव-शास्त्र-गुरु भी निमित्तमात्र हैं ।
 5. आत्मा का हित करो आत्मा का, शरीर-घर-परिवार आदि में मत फँसो ।

❖❖

अपना घर संभालो

सए गेहे पलित्तम्मि किं धावसि परातकं ?।

सयं गेहं णिरित्ताणं ततो गच्छे परातकं ॥ —इसिभासियाइं, 35/13

अर्थ— अपना घर जल रहा है तब दूसरे के घर की ओर क्यों दौड़ रहे हो? स्वयं के घर का बचाव कर लेने के बाद दूसरे के घर की ओर जाओ ।

आत्मार्थ के लिए जागृत बनो

आदट्ठे जागरो होही नो परट्ठाहि धारए ।

आदट्ठो हावए तस्स जो परट्ठाहि धारए ॥ —इसिभासियाइं, 35/14

अर्थ— आत्मार्थ के लिए जागृत बनो । परार्थ को धारण न करो । जो परार्थ को अपनाता है, वह आत्मार्थ को खो बैठता है ।

बाहर में मौन रहो

जइ परो पडिसेवेज्ज पावियं पडिसेवणं ।

तुज्झ मोणं करेतस्स के अट्ठे परिहायतिरा ॥ —इसिभासियाइं, 35/15

अर्थ— यदि दूसरा कोई पाप सेवन कर रहा है तो तुझे मौन में क्या हानि होती है?

आत्मार्थ ही निर्जरा का कारण है

आतट्ठो णिज्जरायंतो परट्ठो कम्मबंधणं ।

अत्ता समाहिकरणं अप्पणो य परस्स य ॥ —इसिभासियाइं, 35/16

अर्थ— आत्मार्थ निर्जरा का हेतु है और परार्थ कर्म-बन्धन का हेतु । आत्मा ही स्व और पर के लिए समाधि का करनेवाला है ।

